स्कूली शिक्षा में भाषा के कुछ सवाल

मनोज चाहिल

केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड द्वारा जारी परिपत्र ने स्कूलों में भाषा शिक्षण के मुद्दे पर विवाद खड़ा कर दिया है। परिपत्र में समस्त स्कूलों में संस्कृत सप्ताह मनाने की बात कही गई है। क्या यह सिर्फ एक भाषा से जुड़ा मसला है या इसके पीछे खास राजनीति और विचारधारा काम कर रही है? क्यों एक खास विचारधारा की सरकार में ऐसे निर्णय लिए जाते हैं? ये कुछ सवाल हैं जिन पर इस लेख में विचार किया गया है।

भारत में भाषा का मुद्दा सदैव एक संवेदनशील मुद्दा रहा है और यह अस्मिता से जुड़ा मसला भी है। सैद्धान्तिक स्तर पर शिक्षा में भाषा को लेकर दो बिन्दुओं पर एक आम सहमति दिखाई देती है। एक, यह कि प्रारम्भिक स्तर पर शिक्षण की माध्यम भाषा बच्चों के परिवेश की भाषा होनी चाहिए। दूसरा, भारत की विविधता व बहुभाषिकता के संदर्भ में त्रि-भाषा सूत्र एक न्यायसम्मत उसूल उपलब्ध कराता है। ऐसे में केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड, दिल्ली (सीबीएसई) द्वारा 30 जून 2014 को जारी किए गए उस परिपत्र (सर्कुलर) ने, जिसमें स्कूलों को 'संस्कृत सप्ताह' मनाने को कहा गया, भाषा के सवाल पर नए सिरे से सोचने को बाध्य किया। स्कूली शिक्षा जगत में हम एक ओर अंग्रेजी माध्यम के कारण निजी स्कूलों के प्रति बढ़ते आकर्षण की परिघटना देख सकते हैं, तो दूसरी ओर सरकारी व्यवस्था के भीतर अंग्रेजी माध्यम के आधार पर 'प्रतिभा' व 'मॉडल' जैसे विशेषणों से अलंकृत नई श्रेणियां निर्मित होते देख रहे हैं। यह आलेख भाषा के सवाल पर हमारी मनोदशा, अनुभवों व इनसे जूझते सवालों को साझा करने की एक कोशिश है।

'सर्वेषां भाषानां जननी संस्कृतं अस्ति'

संस्कृत को बढ़ावा देने के निर्देशों के प्रति परेशानी का एक अहम् सबब ऐसे फैसलों के पीछे का दर्शन है। परिपत्र में संस्कृत को 'मदर ऑफ ऑल लैंग्वेजेज' कहकर संबोधित किया गया है। भाषाविद् इस टिप्पणी पर अधिक समझ-बूझ से राय रख पाएंगे पर सामान्य जानकारी के प्रकाश में यह धारणा सटीक नहीं जान पड़ती है। एक शैक्षिक संस्था की ओर से ऐसी पूर्वाग्रहपूर्ण अवधारणा को बढ़ावा देना अफसोसजनक और खतरनाक है। साथ ही ऐसा सतही व महिमामंडित करने वाला आग्रह प्रकट करना गैर-जिम्मेदाराना भी है। ऐसे आग्रहों का सूत्र हाल ही में भारतीय इतिहास अनुसंधान परिषद् के अध्यक्ष द्वारा व्यक्त उस कथित विश्वास से मिलता है जिसके अनुसार विश्व को भारत का योगदान अतुलनीय बताया गया। अपने अतीत को गौरवपूर्ण दिखाने के लिए अनालोचनात्मक दृष्टिकोण को शिक्षा में अपनाए जाने के उदाहरण इसके पूर्व भी देखने को मिलते रहे हैं। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2000 के अन्तर्गत विशेषकर इतिहास की पाठ्यपुस्तकों को इस हेतु इस्तेमाल करने का संदर्भ हमारे समक्ष मौजूद है। जाहिर है, इस तरह के आग्रहों को राजनैतिक विचारधाराओं से अलग करके नहीं देखा जा सकता है।

इस तरह के आदेशों की दार्शनिक भूमि उस राजनीति से उर्वरता प्राप्त करती है जिसकी नींव पर राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा 2000 व उस पर आधारित पाठ्यपुस्तकें तैयार की गई थीं। यह राजनीति शिक्षा में वर्तमान व इतिहास दोनों को एकांगी रूप देने पर जोर देती है। 'एक देश, एक भाषा, एक संस्कृति' इसका प्रेरक नारा रहा है। इसी बिना पर इसमें प्राचीन इतिहास को सरलीकृत करके एक अविरल, एकीकृत व श्रद्धेय संस्कृति सिद्ध करने का आग्रह है। साथ ही वर्तमान में भी खान-पान, आस्था व भाषा जैसे निज-क्षेत्रों तक में यह राजनीति जो असहिष्णु रवैया रखती है उसका बिम्ब हम संबद्ध पाठ्यचर्या में भी देख सकते हैं। इसके

लेखक परिचय

दिल्ली विश्वविद्यालय के शिक्षा विभाग में शोध-छात्र हैं।

विपरीत प्रगतिशील व उदारवादी शिक्षाशास्त्र के दर्शन की नींव पर रचित पाठ्यचर्या में आलोचनात्मक चिंतन व विविधता जैसे मूल्यों को सहज रूप से स्थान मिलता है।

इस आत्ममुग्ध विश्वास के आंशिक या पूर्ण रूप से सही होने पर भी इसका सार्वजनिक बयान व अकादमिक क्षेत्र में इसका निरंतर ध्यान रखना कुछ और ही दर्शाता है। यह एक हीनता-ग्रंथि का द्योतक भी हो सकता है। मनोविश्लेषण के एक सिद्धांत के अनुसार जो व्यवहार हमें श्रेष्ठता-ग्रंथि से ग्रस्त लगता है असल में उसकी जड़ में एक गहरा हीनता बोध होता है। एक स्वस्थ इंसान को अपने पूर्वजों की विरासत से अपने अस्तित्व को साबित करने की जरूरत नहीं पड़ेगी। इसी तरह अपने या अपनी संस्कृति के गुणों का खुद बखान करने की स्थिति में आ जाना भी स्वस्थ नहीं है।

अव्वल तो यह है कि लोकभाषा नहीं होते हुए भी हमारी स्कूली-व्यवस्था में संस्कृत को पहले ही बहुत बड़ा स्थान प्राप्त है। त्रि-भाषा सूत्र के पालन को लेकर उत्तरी भारत के राज्यों पर यह आरोप लगाया जाता रहा है कि यहां इसकी भावना से बेईमानी की गई। बजाय इसके कि छठी कक्षा से स्कूलों में विद्यार्थियों को विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाएं पढ़ने के अवसर मिलें, लगभग सभी स्कूलों में बिना उनकी राय लिए संस्कृत को तीसरी भाषा के रूप में पढ़ाया जाता है। दलील यह दी जाती है कि अन्य भाषाओं की तरह संस्कृत किसी क्षेत्र से नहीं बंधी/जुड़ी है और इसका यह चरित्र इसे वैश्विक मान्यता प्रदान करता है। लेकिन इसी पक्ष को दूसरी तरह भी व्याख्यायित किया जा सकता है। जो भाषा किसी क्षेत्र, उसकी लोक अभिव्यक्ति से न जुड़ी हो वह किसी वर्ग से संबद्ध होगी और बहुत सम्भव है कि वह एक विशेष, वर्चस्व प्राप्त समूह हो। औपनिवेशिक सत्ता की भाषाएं इसका उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। उर्दू और हिंदी भी इस मायने में जितनी आधुनिक हैं उतना ही एक का फारसीनिष्ठ तथा दूसरी का संस्कृतनिष्ठ स्वरूप शहरी, संभ्रांत वर्ग के सांस्कृतिक-राजनैतिक वर्चस्व का प्रतीक भी रहा है।

यह भी एक विडंबना है कि संस्कृत को अनिवार्य करने या विशिष्ट दर्जा देने की वकालत करने वाले इसकी जिन रचनाओं की तरफ ध्यान खींच रहे होते हैं उन्हीं रचनाओं के ऐतिहासिक चरित्र के कारण ऐसे प्रस्तावों का विरोध भी होता है। ऐसे में संस्कृत में उपलब्ध मिथकीय व लौकिक साहित्य की जो उपेक्षा होती है वह लोक एवं बौद्धिकता दोनों के विरुद्ध है। निश्चित ही संस्कृत में गहन अध्ययन योग्य समृद्ध साहित्य उपलब्ध है और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक आलोचना व रस-प्रधानता दोनों के लिए इस भाषा और इसके साहित्य की जानकारी महत्त्वपूर्ण है। चूंकि आज यह जीवंत व बोलचाल की भाषा नहीं है इसलिए इसको पढ़ाने के और इसमें रचित साहित्य का अध्ययन करने के उच्च-स्तरीय केन्द्र तो होने चाहिएं पर स्कूलों में किसी भी कारण इसे अनिवार्य बनाना शिक्षाशास्त्रीय दृष्टि से भी ठीक नहीं है। स्कूलों में कौन-सी भाषाएं पढ़ाई जाएं, यह तय करने के लिए जो सूत्र हमारे पास हैं उनमें एक तो सीखने में मातृभाषा के स्थान से जुड़ा है और दूसरा बच्चों-समुदायों की पहचान से। वैसे व्यवहार में दो अन्य सूत्रों का अधिकाधिक इस्तेमाल हो रहा है- राज्यों के भीतर और उनके बीच में पुल का काम करने के लिए उपयुक्त भाषाएं तथा 'वैश्विक बाजार' में नौकरियां पाने के लिए कारगर भाषाएं। संस्कृत इन चारों सूत्रों में फिट नहीं बैठती है। हां, कुछ लोगों के लिए यह पहचान का माध्यम अवश्य होगी और यह उनकी इच्छा व अधिकार का मामला है। यानी, स्कूलों में भी इसको शौक से पढ़ने के अवसर होने चाहिएं। मगर फिर भी इसे दूसरों की अस्मिता की कीमत पर अन्यों पर थोपने का औचित्य नहीं बनता है। जिन्होंने स्कूल में संस्कृत पढ़ी है उनमें से अधिकतर के लिए शायद आज यह एक बंद किताब है। इससे किसका भला हुआ? कम-से-कम संस्कृत का तो नहीं। यहां जामिया विश्वविद्यालय की एक पूर्व छात्रा का अखबार (द हिन्दू, 17 जुलाई 2014) में छपा वह कथन बहुत प्रासंगिक लगता है जिसमें उसने कहा था कि उसे उर्दू एक खूबसूरत भाषा लगती है और वह इसे खुद सीखना चाहती है पर जामिया में इसे जबरदस्ती पढ़ना उसे बिल्कुल अच्छा नहीं लगा। सत्ता के ऐसे प्रशासनिक आग्रह से इतना भर तो हो सकता है कि कुछ लोगों को जबरदस्ती एक जबान पढ़नी पड़े, कुछ को इस बहाने नौकरी मिल जाए और कुछ के लिए इसकी राजकीय प्रतिष्ठा एक सांकेतिक संतोष दिलाने का काम करे - वैसे राजनीति व संस्कृति में भाषा के प्रतीकात्मक महत्त्व का वैध स्थान है- मगर इस पर संदेह है कि इन आदेशों व प्रायोजनों से संस्कृत लोगों के बीच दैनिक इस्तेमाल की भाषा बन पाएगी।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय महाद्वीप में पाकिस्तान द्वारा पूर्वी पाकिस्तान पर उर्दू लादे जाने के कारण दुनिया के नक्शे पर एक नया देश उभरा। क्या हम इतिहास के उन पन्नों से कोई सबक लेंगे?

भाषायी छल

कितना सुंदर होता यदि त्रि-भाषा सूत्र की भावना का ईमानदारी से पालन करने की कोशिश की गई होती। मगर वास्तविकता में हुआ यह कि तमिलनाडु को छोड़कर लगभग सारे दक्षिण भारत में तो हिंदी को स्कूलों में शामिल किया गया पर करीब-करीब पूरे उत्तर-भारत में संस्कृत को आधुनिक भारतीय भाषा के रूप में स्कूलों में अनिवार्य कर दिया गया। देखा जाए तो, सूत्र में जताई गई उम्मीद के ठीक विपरीत, उत्तर भारत में न सिर्फ दक्षिण-भारतीय भाषाएं शामिल नहीं की गईं बल्कि आठवीं अनुसूची में दर्ज भारत की अन्य भाषाओं तक को स्कूलों में जगह देने के प्रयास नहीं हुए।

उपरोक्त संदर्भ में हम स्कूलों में भाषाई स्तर पर कई विसंगतियां देख सकते हैं। शिक्षक साथी बताते हैं कि स्कूलों में भाषा-रजिस्टर नाम का एक दस्तावेज रखने का प्रावधान है। हर बच्चे को दाखिल करते समय अभिभावक से उसकी भाषा पूछकर इस रजिस्टर में दर्ज करनी होती है। दर्ज कराई गई भाषा को मातृभाषा या केवल शिक्षण के माध्यम की पसंद के रूप में देखा जा सकता है। इस प्रक्रिया में अक्सर भाषाई विविधता व पहचान के अधिकार का जबरदस्त हनन किया जाता है। उदाहरण के लिए, स्कूल में पहले से चली आ रही शिक्षण का माध्यम भाषा को ही सबके नाम पर दर्ज कर दिया जाता है। अगर स्कूल किसी तारीख को हिंदी माध्यम का है, फिर उसके बाद जो भी प्रवेश लेता है, चाहे वह पंजाबी भाषी हो या भोजपुरी, उनसे पूछे बिना हिंदी को ही उनके द्वारा बताई गई भाषा के रूप में दर्ज कर दिया जाता है। अर्थात् अभिभावकों को ऐसे किसी रजिस्टर और उसके निहितार्थ का पता ही नहीं चलने दिया जाता। बहुत सम्भव है कि कमोबेश यही स्थिति उन स्कूलों में भी हो जहां उर्दू, बांग्ला आदि की पहचान रखने वालों का बहुमत हो। सम्भव है कि इस झूठ के पीछे सदा भाषाई विद्वेष या पूर्वाग्रह न हो बल्कि कुछ लोग इसे 'अतिरिक्त कागजी कार्रवाई' से बचने के लिए इस्तेमाल करते हों। इसी तर्ज पर एक व्यवस्थाजनक ढोंग विद्यार्थियों के छठी कक्षा में प्रवेश लेते समय तब अंजाम दिया जाता है जब उन्हें 'तीसरी भाषा' चुननी होती है। यहां भी विद्यार्थियों से पूछे बिना स्कूलों में पहले से चली आ रही भाषा को तीसरी-भाषा के रूप में उनके चयन की तरह दर्शा दिया जाता है! फॉर्म में जहां विद्यार्थी/अभिभावक को तीसरी भाषा लिखनी होती है उन्हें या तो निर्देश दिया जाता है कि वे अमुक भाषा लिखें या फिर सुविधानुसार इसे खुद ही भर दिया जाता है। वैसे यहां भी अधिकतर विद्यार्थियों/अभिभावकों को पता नहीं होता है कि यह उनकी पसंद का सवाल है - स्कूल की संस्कृति, उसके इतिहास से परिचय उन्हें जताता है कि अमुक स्कूल में अमुक भाषा ही अनिवार्यतः पढ़ाई जाती है। उन्हें यह एहसास तक नहीं होता कि यह कोई प्राकृतिक-सनातन घटना नहीं है बल्कि उनकी इच्छाशक्ति पर निर्भर परिवर्तनशील फैसला है। शहरों में बिखरे हुए भाषाई समूह उस राजनैतिक चेतना से लैस नहीं होते हैं जिससे वे महसूस कर पाएं कि स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली भाषा का चयन केवल एक निरपेक्ष निर्णय नहीं है बल्कि संस्कृति और अस्मिता का सत्ता-सापेक्ष फैसला भी है। अगर हम इस प्रकार के दोहरेपन की व्यापकता पर गौर करें तो एक दुखद सूत्र हाथ लगेगा- जिस भी भाषा से अपनी सांस्कृतिक-राजनैतिक पहचान जोड़ने वाले जहां भी वर्चस्व में हैं वे बहुसंख्यकवाद का परिचय देते हुए शिक्षा जैसे क्षेत्र में भी विद्यार्थियों के हक और उनकी अस्मिता तक को दबाते व नकारते हैं।

यह स्वीकार किया जा सकता है कि एक श्रेष्ठ सिद्धांत होते हुए भी संसाधन के व्यावहारिक कारणों से आरम्भिक कक्षाओं में बच्चों की मातृभाषा व छठवीं में उनकी पसंद की तीसरी भाषा को अपनाना आज सम्भव नहीं है। मगर यह शिकायत फिर भी अपनी जगह निरुत्तरित है कि आखिर क्यों इस संबंध में सच दर्ज करने की न्यूनतम ईमानदारी भी नहीं बरती जाती।

आंकड़े : उदाहरण और सबक

सूचना का अधिकार की अर्जी के जवाबों से पता चलता है कि दिल्ली नगर निगम के बहुत कम स्कूलों में उर्दू अथवा पंजाबी भाषाएं पढ़ाई जाती हैं। उदाहरण के लिए, उत्तरी निगम के 700 से ज्यादा स्कूलों में से 30 स्कूल उर्दू माध्यम के हैं और पंजाबी का एक भी नहीं। इनके अतिरिक्त केवल 21 में उर्दू तथा 16 में पंजाबी पढ़ाई जा रही है। इन भाषाओं के माध्यम के स्कूल तो और भी कम हैं- उर्दू के 30 व पंजाबी का एक भी नहीं। यह स्थिति इसलिए काबिल-ए-गौर है क्योंकि दिल्ली में इन भाषाओं को तो एक राजकीय दर्जा भी प्राप्त है। यह सच है कि शिक्षण का माध्यम और विषय दोनों के रूप में स्कूलों में भाषाओं की संख्या में पिछले कई दशकों से लगातार गिरावट आ रही है जिसका एक प्रमुख कारण बाजार का प्रभुत्व भी है- वहीं यह भी सच है कि मुंबई-महानगर पालिका के स्कूलों में लगभग दस और दिल्ली-नगर-निगम के स्कूलों में चार भाषाओं में शिक्षा देने की व्यवस्था लागू है, भले ही कमजोर स्वरूप में। नव-उदारवादी मुक्त बाजार के उस राजनैतिक दर्शन के बरक्स जिसमें शिक्षा भी मुनाफा कमाने के लिए खरीद-फरोख्त का एक माल है, आज भी हम चेत सकते हैं कि भाषाओं की विविधता के संदर्भ में अस्मिता रूपी व शिक्षाशास्त्रीय न्याय लोगों के हकों के प्रति समर्पित सार्वजनिक व्यवस्था में ही सम्भव है।

भाषा-निरपेक्षता

किसी भाषा को, जोकि एक मजबूत स्थापना के अनुसार माहौल से खुद-ब-खुद ग्रहण की जाती है, स्कूलों में पढ़ाने का औचित्य ही क्या है? अगर हम भाषाओं को विषय व साहित्य दोनों के स्तर पर पारंपरिक संस्थाओं के भरोसे छोड़ दें तो इससे न सिर्फ मतारोपण की संभावना बढ़ेगी बल्कि जातीय, लैंगिक, धार्मिक रूढ़िवादिता व पूर्वाग्रहों के तत्व बिना प्रश्नांकित हुए स्थानांतरित होते रहेंगे। इसमें एक खतरा यही है कि ऐसे में यह गलत धारणा बल पा जाएगी कि भाषाएं धार्मिक समुदायों से प्राकृतिक रूप से जुड़ी होती हैं। फिर इन भाषाओं को सिखाने का स्वरूप वैज्ञानिक न होकर दकियानूसी हो जाएगा। स्कूलों में यह सम्भावना अधिक है कि भाषाओं को आधुनिक व सार्वभौमिक मूल्यों के साथ पढ़ाया जाए।

पाठ्यचर्या में किसी भाषा को स्थान तीन स्तरों पर दिया जा सकता है - माध्यम, विषय व साक्षरता। इसमें जब हम मातृभाषा को माध्यम का स्थान नहीं दे पा रहे तो उसको दर्ज करना, व्यवस्था की कमी स्वीकार करना और नियुक्तियों आदि में उसकी भरपाई करना ईमानदारी का तकाजा हो जाता है। माध्यम चाहे मातृभाषा हो चाहे अन्य यह संदेश बहुत मजबूती से जाना चाहिए कि यह शिक्षाशास्त्रीय अथवा प्रशासनिक सुविधा का मसला है, एक भाषा की अन्यों के ऊपर श्रेष्ठता का नहीं। हमें यह भी विचार करना होगा कि केवल तथाकथित श्रेष्ठता के आधार पर किसी भाषा को पाठ्यचर्या में स्थान देना कितना उचित है? इस आधार पर जगह देने के शैक्षिक निहितार्थ क्या होंगे? स्थान किस स्तर पर दिया जाए? और क्या किसी भाषा की श्रेष्ठता के आधारों पर पूरा यकीन करने पर भी उसके पैरवीकारों को यह हक मिल जाता है कि वे उसे अन्यों के लिए भी अनिवार्य घोषित कर दें?

भाषा व धार्मिक पहचान

अपने नैसर्गिक रूप में भले ही भाषा धार्मिक आस्था से संबद्ध न हो पर ऐसे उदाहरण हैं कि एक समाज निर्मित सत्य की तरह कुछ भाषाओं की पहचान विशिष्ट आस्था समूहों से की जाती है। यह सोच सैद्धांतिक रूप से गलत है, निराधार है। सच यही है कि इस त्रुटि को ही सामाजिक तथ्य की मान्यता प्राप्त है। लेकिन बर्ताव ऐसे किया जाता है जैसे यह अटल सत्य है। माना कि अन्य भाषाओं की तरह संस्कृत और उर्दू को भी आस्था-विशेष के समुदायों की भाषाएं नहीं होना चाहिए।

एक शिक्षक साथी ने बताया कि कैसे एक सरकारी प्राथमिक स्कूल में जिसमें उर्दू पढ़ने वालों का अलग अनुभाग था कुछ शिक्षकों को उन्होंने बहुत-ही गलत अंदाज से संबोधित करते हुए सुना। इससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि

जहां उर्दू पढ़ाई जाए वहां इसे पूरे स्कूल के लिए लाजमी कर दिया जाए ताकि आपसी-अलगाव व पूर्वाग्रह जनित रूढ़िवादी व्यवहार से बचाव हो सके। एक मित्र का असम के उन स्कूलों का अवलोकन जहां एक ही प्रांगण में बोडो व असमिया माध्यम की छात्राओं को उनके अलग परिधानों से ही नहीं बल्कि अलग समूहों से भी पहचाना जा सकता था उक्त मित्र के सुझाव के पक्ष की दलील प्रस्तुत करता है। मगर उनके इस प्रस्ताव में दो समस्याएं हैं। पहली, यह एक भाषा को अनिच्छुक लोगों पर थोपना होगा तथा दूसरी, यह हमारे स्कूलों की विफलता ही सिद्ध करेगा। स्कूलों का काम विविधता को प्रोत्साहित करना व विद्यार्थियों को इसके विभिन्न आयामों के प्रति सहज बनाना होना चाहिए। इनके सार्वजनिक व साझे चरित्र का औचित्य ही इसमें है कि विभिन्न पृष्ठभूमियों के बच्चे एक-दूसरे से सहज, निश्छल संबंध स्थापित करें।

भाषा : लाभ-हानि के सौदे

उर्दू को समर्थन देने वालों के सामने एक द्वंद्व और है जिसकी रोचक तुलना संस्कृत की स्थिति से की जा सकती है। जो उर्दू को दरकिनार कर दिए जाने को लेकर उदास व चिंतित हैं, उनका भी मानना है कि वर्तमान परिस्थितियों में उर्दू माध्यम स्कूलों की मांग करना खुद विद्यार्थियों के हित में नहीं है क्योंकि न तो इस भाषा में पाठ्यपुस्तकें उपलब्ध हैं और न ही उच्च-शिक्षा में यह माध्यम के रूप में स्थापित है। कमोबेश यही स्थिति भारत में कई भाषाओं की है। इसीलिए भाषाओं को लेकर यह एक छटपटाहट का दौर भी है- अपनी आंखों के सामने अपनी भाषाओं का, अपनी भाषाई पहचान का ह्रास देखना और उसी प्रक्रिया में सहभागी होना। उधर संस्कृत को लेकर स्कूलों में अंकों की प्रेरणा भी है। इसमें अच्छे अंकों की गारंटी को विद्यार्थियों, अभिभावकों व शिक्षकों तीनों द्वारा एक मजबूत आकर्षण की तरह देखा जाता है। अब इस बात को कैसे व्याख्यायित किया जाए कि एक विद्यार्थी उस भाषा में कहीं अधिक अंक अर्जित कर रहा है जिसे वह न बोल पाता है और न समझ पाता है बनिस्बत उसकी रोजमर्रा की भाषा के? यह देखा गया है कि संस्कृत पढ़ाने वालों का एक बड़ा वर्ग खुद इस भाषा के प्रयोग में सहज नहीं है। पूर्व में उद्धृत परिपत्र के संदर्भ में ही एक मित्र ने बताया कि उनके स्कूल की संस्कृत शिक्षिका गर्वित तो हो रही थीं पर संस्कृत में गतिविधियों को कराने को लेकर उत्साहित नहीं थीं!

अंत में,

यह ख्याल ही बेमानी है कि कोई भाषा महान होती है। इनकी तुलना के अलग आयाम हो सकते हैं। मगर उनमें भी महानता या श्रेष्ठता की उपाधि निरर्थक होगी। अगर आप बार-बार अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए एक भाषा से अपने ऐतिहासिक, गौरवशाली व विशेष संबंधों का हवाला देंगे तो दूसरे भी यही मानने को मजबूर होंगे कि उक्त भाषा आपकी ही है।

असल में संस्कृत को बढ़ावा देने के पक्ष में एक अधिक आपत्तिरहित कारण दिया जा सकता है कि यह खतरे में है। इस आधार पर इसे संरक्षित करने की जरूरत है। वैसे ही जैसे संग्रहालयों में ऐतिहासिक महत्त्व की चीजों को और संरक्षित क्षेत्रों में विलुप्त हो रहे प्राणियों को। फिर हमें संस्कृत सप्ताह की नहीं बल्कि विलुप्ति की कगार पर खड़ी सभी भाषाओं के सप्ताह मनाने की जरूरत भी महसूस होगी। ◆

(हम अपने साथी फिरोज अहमद का आभार व्यक्त करते हैं जिन्होंने इस विषय पर अपने अनुभव साझा किए।)